

आने वाले कल की यादें : बच्चे, श्रम और औपचारिक स्कूली शिक्षा की रामबाण औषधि*

सारदा बालगोपालन

यह लेख भारत में छह से चौदह वर्ष की उम्र के सभी बच्चों को स्कूल में नामांकित करने के मौजूदा प्रयासों की एक आलोचनात्मक व्याख्या प्रदान करता है। इन प्रयासों को आमतौर पर उस दोहरे विकल्प वाले खाके (binary frame) के भीतर निर्मित होने के जरिए नैतिक आधार प्राप्त होता है, जिसके तहत औपचारिक स्कूल वह जगह बन जाती है जो बाल मजदूरों को 'बचाती' है। यह लेख न तो इस विषय के मौजूदा साहित्य की सम्पूर्ण समीक्षा करता है और न ही यह इस मसले पर विस्तार से प्रकाश डालने की कोशिश करता है कि दुनिया भर में यह दोहरा विकल्प किस तरह काम करता है। यह लेख विभिन्न आख्यानों की मदद से, उन तरीकों पर प्रकाश डालता है, जिनसे अन्तरराष्ट्रीय नीतिगत विमर्श गैर-पश्चिमी दुनिया में बच्चों, बचपन और परिवार की एक खास निर्मिति (कल्पना) को अपना आधार बनाता है। यह दोहरा विकल्प इस मुद्दे को जिस तरह से गढ़ता है और इससे नीतियों पर जो प्रभाव पड़ता है, इसकी चर्चा इसमें निहित मान्यताओं और स्थानीय क्षेत्र पर इसके प्रभाव की छानबीन के जरिए की गई है। इन आख्यानों की सांस्कृतिक रूप से सापेक्षिक समझ से परे जाने के लिए, जिसके तहत इन कथानकों को ऐसे स्थानीय उदाहरण माना जाता है जिनमें व्यापक विश्लेषणात्मक क्षमता नहीं है, यह पर्चा इन कथानकों का उपयोग करते हुए इस दोहरे विकल्प में अन्तर्निहित बच्चा, स्कूल और श्रम की तीन प्रभावशाली निर्मितियों की चर्चा करता है।

परिचय

2002 में, कलकत्ता की एक व्यस्त सड़क पर स्थित एक साइन बोर्ड में नागरिकों से अनुरोध किया गया था कि स्कूल की समय-अवधि के दौरान अगर 6 से 14 वर्ष की उम्र का कोई भी बच्चा

* *The Journal of the History of Childhood and Youth*, Volume 1, Number 2, Spring 2008, पृ. 267-285 से उद्धृत।

सड़क पर दिखे तो वे तुरन्त पुलिस को सूचित करें। न तो सड़क पर रहने वाले बच्चों के साथ पुलिस की क्रूरता की व्यावहारिक समझ ने और न ही इसकी रिपोर्टिंग करने में मीडिया की तत्परता ने इस साइनबोर्ड को सार्वजनिक बहस का मुद्दा बनाया। इस चुप्पी की एक वजह यह भी हो सकती है कि CLPOA (City-Level Programme of Action for Street and Working Children), जो कि कलकत्ता में बच्चों के लिए कार्यरत संस्थाओं का मिला-जुला संगठन है, ने इस साइन बोर्ड पर मुहर लगाई थी और शायद इससे जनता आश्वस्त हुई होगी। पर जब हम इस तथ्य पर गौर फरमाते हैं कि CLPOA का गठन इन बच्चों की जिन्दगियों में पुलिस की हद से ज्यादा मौजूदगी को खत्म करने के इरादे से किया गया था तो यह समझना मुश्किल हो जाता है। तो फिर इस विचित्र स्थिति को कैसे समझें जिसमें नागरिक समाज (civil society) इन बच्चों की जिन्दगी में पुलिस की मौजूदगी का समर्थन करता प्रतीत होता है?

इस प्रश्न का जवाब पुलिस को बदलने या उनका रवैया सुधारने में नहीं बल्कि इस तथ्य में निहित है कि 'स्कूली शिक्षा' इन बच्चों को बाल मजदूरों के रूप में इनकी मौजूदा जिन्दगियों से छुटकारा दिलाने की दवा बन गई है। भारत में उदारीकरण के पश्चात 'खतरे के दायरे में आनेवाला बच्चा' अर्थात् सड़क पर रहने वाला बच्चा और बाल श्रमिक सर्वत्र मौजूद है, जो शहरों में ऐसे बच्चों की संख्या में वृद्धि के स्पष्ट अर्थ में नहीं बल्कि 'बचपन बचाने' के नैतिक विमर्श के नए 'विषय' के तौर पर उनके प्रकट होने के अर्थ में है। यह विमर्श इन बच्चों को बुर्जुआ बचपन के दायरों में स्थापित करके तीसरी दुनिया के इन गरीब बच्चों को सामान्य बनाने के उद्देश्य के लिए जाने वाले सुधार की कुछ छवियाँ प्रस्तुत करता है, इस विमर्श के तहत माना जाता है कि इन बच्चों ने अपना 'बचपन खो दिया' है। ऐसे स्थानों में से एक महत्वपूर्ण स्थान स्कूल है। इस कल्पना के तहत ऐसा प्रतीत होता है कि इस स्थान में औपचारिक स्कूली शिक्षा से मिलने वाले प्रतिफलों से एक बेहतर कल, एक बेहतर भविष्य स्थापित करने की जादुई ताकत निहित है।¹

हालिया दिनों में हाशिए के बच्चों को औपचारिक स्कूलों में नामांकित करने के अभियानों को जो अपार अन्तरराष्ट्रीय, राष्ट्रीय और नागरिक समर्थन मिला है वह 1989 में बच्चों के अधिकारों के सम्मेलन को अपनाने की वजह से हो सकता है। इस सम्मेलन ने एक आधुनिक बुर्जुआ बचपन को मानक के तौर पर सामान्यीकृत करने में मदद की जिसके सहारे दुनिया के विविध हिस्सों में रहने वाले बच्चों की रोजमर्रा की अलग जिन्दगियों का मापन और आकलन होने लगा है।² वास्तव

में, इन बच्चों द्वारा अपने अधिकारों को प्रयोग कर पाने की जरूरत, और सबके लिए शिक्षा के सन्दर्भ में उठाए गए कदमों में निहित पात्रता की भाषा, दोनों, नागरिकता के इन विमर्शों के इर्द-गिर्द अपनी वैधता और लोक स्वीकार्यता पाते हैं।

सामाजिक और आर्थिक गतिशीलता, अवसर और हैसियत के लिए आवश्यक योग्यताएँ प्रदान करने में औपचारिक स्कूली शिक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका न केवल महत्वाकांक्षी मध्यम वर्ग और पढ़े-लिखे अभिजात वर्ग में बल्कि गरीबों में भी व्यापक सामान्य समझ के तौर पर काम करती है। विडम्बना यह है कि इन गरीबों के जीवन में स्कूली शिक्षा स्वतः प्रमाणित इसलिए हो गई है क्योंकि इतिहास में यह उनके लिए निषेधित थी।³ एक बेहतर कल की छवियों को मन में स्थापित करके, स्कूली शिक्षा द्वारा निर्मित की जाने वाली बेहतर कल की चाह स्कूल के दायरे से उनकी ऐतिहासिक अनुपस्थिति के बावजूद, हाशियाकृत समुदायों में व्यापक रूप से प्रचलित है। इसलिए सामान्यतः औपचारिक स्कूली शिक्षा के प्रावधान द्वारा बाल मजदूरी को खत्म करने से हाशिए के समुदायों का कोई मूलभूत संघर्ष नहीं है। फिर भी, स्कूलों में गरीब बच्चों का नामांकन सुनिश्चित करने के हालिया प्रयासों के बावजूद, ड्राप आउट की उच्च दर कायम है और अभिभावक अभी भी बच्चों को स्कूल भेजने की बजाए काम पर भेजने को प्राथमिकता देते हैं। तो फिर, औपचारिक शिक्षा के प्रति इस निरन्तर अरुचि को कैसे समझा जाए?

‘बाल मजदूरी’ की श्रेणी इस चर्चा के केन्द्र में है। यह लेख इस बहस की बारीकियों, बच्चों को किस आयु में काम करना चाहिए और उन्हें किस प्रकार के काम करने चाहिए इस बारे में इसकी बदलती हुई सीमा-रेखाओं पर गौर नहीं करता।⁴ इसके बजाए, मैं माइकल बूर्दिलोन (Michael Bourdillon) की बाल श्रम पर बहस की प्रस्तुति (framing) को अपनाती हूँ। उनके अनुसार यह बहस बचपन के बारे में अलग-अलग धारणाओं में निवेश को इंगित करती है। ऐसा खाका इसलिए उपयोगी है क्योंकि यह बहस की मुख्य रूपरेखाओं को दर्शाता है, और इन रूपरेखाओं को बचपन के अध्ययन के उभरते हुए क्षेत्र के व्यापक सैद्धान्तिक सरोकारों से जोड़ता है, इस प्रकार यह प्रस्तुति अकसर इस मुद्दे की अनुभवजन्य (empirical) चर्चा से उत्पन्न होने वाली नैतिक दृष्टि की तीव्रता को कम करने में मदद करती है।

एक सामाजिक परिघटना के रूप में बचपन इसे अप्राकृतिक और ऐतिहासिक साबित करने के प्रयासों का सबसे अधिक प्रतिरोधी रहा है। अभी हाल तक बचपन का अध्ययन काफी हद तक विकासात्मक मनोविज्ञान के अन्तर्गत ही सम्मिलित था, जिसमें जैविक उम्र ही सामाजिक अनुभवों को समझने के आधार के रूप में काम करती थी। एक सामाजिक और ऐतिहासिक निर्मिति के तौर पर बचपन का विचार पहली बार फिलिप एरीज (Philippe Aries) की प्रभावशाली कृति में प्रमाणित हुआ। उनके तर्कों ने बुनियादी तौर पर उन तरीकों को बदला जिनसे कई अकादमिक अनुशासनों के अन्तर्गत बच्चों के जीवन पर शोध किया जाता रहा है और उसे समझा जाता रहा है।⁵ अब बच्चों को अराजनैतिक (apolitical) और अलैंगिक (asexual) नहीं माना जाता था, वे पाश्चात्य संस्कृति द्वारा उन पर और उनकी मासूमियत पर किए जानेवाले निवेश और उस निवेश के प्रभाव के रूप में वयस्कों द्वारा उनसे की जाने वाली अपेक्षाओं के अध्ययन का विषय बन गए।⁶ इसके अलावा, कमाई वाले काम से बचपन के अलगाव का इतिहास और बच्चे के प्रति बढ़ती भावुकता, आधुनिक मशीनी समाजों और पाश्चात्य राज्यों द्वारा उनकी आबादी को नियंत्रित करने और उन्हें सुधारने की कोशिशों— दोनों से ही करीबी से जुड़ा माना जाता है।⁷

बाल मजदूरी पर मौजूदा बहसों को दो विचारधाराओं में विभाजित किया जा सकता है।⁸ पहली विचारधारा मानती है कि पाश्चात्य बुर्जुआ बचपन को ही प्रभुत्वशाली आदर्श बचपन के तौर पर कार्य करना चाहिए, और साथ ही अन्तरराष्ट्रीय नीतिगत प्रयास इसे उन जिन्दगियों की वास्तविकता बनाने के लिए तैयार किए जाने चाहिए, जिनमें भौतिक और सांस्कृतिक आधुनिकता की इसकी समझ की कमी है। इस आदर्श के अन्तर्गत, बच्चे को पालन-पोषण और देख-रेख की वस्तु के तौर पर, पूरी तरह अबोध और इसलिए सम्भवतः सीखने के लिए कार्यरत माना जाता है, लेकिन उसे ऐसे व्यक्ति के तौर पर नहीं देखा जाता जिससे कमाई कराई जा सके और जो अपने परिवार का पर्याप्त आर्थिक सहयोग कर सके। बहुत से आलोचकों ने उन तरीकों पर टिप्पणी की है जिनसे बाल अधिकारों पर सम्मलेन [Convention on the Rights of the Child या CRC] इस तरह के बचपन को स्वतः-सिद्ध सार्वभौमिक आदर्श के रूप में स्थापित करने के लिए कार्य करता है। इस प्रकार यह सम्मलेन बचपन के इस संकीर्ण खयाल की सहायता से बच्चों की जिन्दगियाँ सुधारने के सार्वभौमिक प्रयास करता है जिसमें बचपन के मानक जैविक उम्र, कानूनी प्रावधानों और बच्चों और वयस्कों के बीच भूमिकाओं में स्पष्ट अलगाव से निर्धारित होते हैं। दूसरी विचारधारा बचपनों की बहुलता (multiple childhoods) के विचार को महत्व देती है और एक सार्वभौमिक

मानदण्ड से परे, बच्चों की जिन्दगियों को उनके अलग-अलग सन्दर्भों में समझने की कोशिश करती है। जैविक उम्र, वयस्कों और बच्चों के बीच विभेदन, और बाल श्रम जैसी अवधारणाएँ समाजीकरण की भिन्न प्रक्रियाओं से जुड़ी हुई हैं जो बच्चों के जीवन के ऐतिहासिक-सांस्कृतिक और भौतिक हालातों से प्रभावित होती हैं। बचपनों की बहुलता (multiple childhoods) वाली अवधारणा को सांस्कृतिक सापेक्षवाद (cultural relativism) के रूप में देखा जा सकता है और बच्चों की जिन्दगियों के बुर्जुआ आदर्श के जैसे ही भूमिका यह व्याख्या भी निभा सकती है। हालाँकि, सामाजिक रूप से संरचित बचपनों वाले विमर्श का उद्देश्य स्पष्ट रूप से इन्हीं निरूपणों को गढ़ने वाली छिपी हुई मान्यताओं पर आलोचनात्मक सवाल उठाना है, इस प्रकार यह बच्चों की जिन्दगियों को सांस्कृतिक तौर पर अलग लेकिन फिर भी इतिहास के ताने-बाने और शक्ति, ज्ञान और हिंसा के इसके क्रियाकलापों द्वारा व्यापक सामाजिक दुनिया से करीबी तौर से जुड़ी हुई के रूप में गढ़ने को सुगम बनाता है।⁹

इन दो विचारधाराओं की अलग अलग स्थिति से अवधारणाओं और कारणों की प्रतिस्पर्धी समझ ही नहीं, बल्कि इनके सम्भावित हल के बारे में प्रतिस्पर्धी निर्माण भी दाँव पर लगे हैं। बच्चों और 'क्षति' के बारे में अलग-अलग विचार ही मुख्य तौर पर इन दोनों विचारधाराओं को विभाजित करते हैं। जबकि पहली विचारधारा में बाल मजदूरी से होने वाली क्षति को उम्र, प्रकार, काम करने की जगह के सन्दर्भ में स्पष्ट रूप से परिभाषित किया गया है, बहुलता वाले बचपनों की इस धारणा के तहत क्षति एक तरह का सापेक्ष लचीलापन ग्रहण कर लेती है। हालाँकि, दूसरी विचारधारा के तहत भी क्या स्वीकार्य नहीं है इसका स्पष्ट निर्धारण मौजूद है और इसमें सामान्यतया जोखिम वाली स्थितियों में काम करने वाले बच्चों के साथ ही अन्तरराष्ट्रीय मजदूर संगठन द्वारा बाल मजदूरी के सबसे खराब स्वरूपों के रूप में वर्गीकृत पेशों में काम करने वाले बच्चों को भी शामिल किया जाता है, जिनमें वेश्वावृत्ति और जबरन मजदूरी भी शामिल हैं। 'क्षति' के अतिरिक्त बच्चों की तुलना में वयस्कों की भूमिका की अलग-अलग समझ भी विभेदन का एक अहम मुद्दा है। बचपन के पाश्चात्य आदर्श के परिप्रेक्ष्य से, बच्चों से काम करवाने के लिए अभिभावकों को मुख्य तौर से जिम्मेदार ठहराया जाता है; इस मॉडल में औपचारिक स्कूली शिक्षा की आधुनिक जगहें बुर्जुआ प्रतिमानों से इस विचलन को समाप्त करने का प्रयास करती हैं। इस विमर्श के तहत 'स्कूल' एक 'सामान्य' बचपन का द्योतक है, जिसमें मासूमियत, देख-रेख और बच्चों और वयस्कों की भूमिकाओं में स्पष्ट पृथक्करण पर साफ जोर दिया जाता है। जो लोग बहुलता वाले बचपनों में

विश्वास रखते हैं, उनके लिए स्कूल को काफी सुस्पष्ट ढंग से बच्चों के काम करने से मिलाया जा सकता है बशर्ते काम करने के घण्टे सीमित हों।¹⁰ माना जाता है कि अभिभावकों के कार्यकलाप बच्चे के सर्वश्रेष्ठ हित को ध्यान में रखकर किए जाते हैं और परवरिश और देख-रेख की धारणाओं को विशिष्ट सन्दर्भ द्वारा प्रदान किए गए प्रचलित प्रसंगों के दायरे में देखा जाता है।

यह लेख बहुलता वाले बचपनों के चश्मे की सहायता से हाशिए पर रहने वाले बच्चों की जिन्दगियों में औपचारिक स्कूली शिक्षा एवं काम की अहमियत, और इन पर आधारित स्व के निर्माण के बारे में बात करता है। यह लेख न तो इस विषय के मौजूदा साहित्य की सम्पूर्ण समीक्षा करता है और न ही यह इस मसले पर विस्तार से प्रकाश डालने की कोशिश करता है कि दुनिया भर में यह दोहरा विकल्प किस तरह काम करता है। यह लेख विभिन्न आख्यानो की मदद से, उन तरीकों पर प्रकाश डालता है, जिनसे अन्तरराष्ट्रीय नीतिगत विमर्श गैर-पश्चिमी दुनिया में बच्चों, बचपन और परिवार की एक खास निर्मिति (कल्पना) को अपना आधार बनाता है। यह दोहरा विकल्प इस मुद्दे को जिस तरह से गढ़ता है और इससे नीतियों पर जो प्रभाव पड़ता है, इसकी चर्चा इसमें निहित मान्यताओं और स्थानीय क्षेत्र पर इसके प्रभाव की छानबीन के जरिए की गई है। इन आख्यानो की सांस्कृतिक रूप से सापेक्षिक समझ से परे जाने के लिए, जिसके तहत इन कथानकों को ऐसे स्थानीय उदाहरण माना जाता है जिनमें व्यापक विश्लेषणात्मक क्षमता नहीं है, यह पर्चा इन कथानकों का उपयोग करते हुए इस दोहरे विकल्प में अन्तर्निहित बच्चा, स्कूल और श्रम की तीन प्रभावशाली निर्मितियों की चर्चा करता है। मेरा उद्देश्य बाल मजदूरी और औपचारिक स्कूली शिक्षा के बीच के दोहरे विकल्प को आकार देने वाली नैतिक मान्यता का खुलासा करना है। ऐसा करने के लिए मैं उन बच्चों के दैनिक जीवन में इस दोहरे विकल्प के कार्य प्रभाव को स्पष्ट करूँगी जिन्हें 'बचाने' के लिए इसे तैयार किया गया है।

'बच्चे' की निर्मितियाँ

हार्किन बिल (1994) के लागू किए जाने ने, बांग्लादेश के कपड़ों के कारखानों में काम करने वाले बच्चों की जिन्दगियों में जो उथल-पुथल मचाई, उससे बच्चों द्वारा बनाई जाने वाली चीजों पर प्रतिबन्ध लगाने की अदूरदर्शिता दुनिया के समक्ष जाहिर हुई। हार्किन बिल ने यह मान लिया था कि स्कूलों को स्थापित करके देश के कपड़े के कारखानों से बाल मजदूरी को खत्म करना मुमकिन

है, यह मान लिया गया था कि अपने काम करने की जगहों से निकाले जाने के बाद बच्चे स्वाभाविक तौर से इन स्कूलों में जाने लगेंगे। स्कूलों में उनके स्वाभाविक प्रवेश के विपरीत, बच्चे अब और भी अधिक हानिकारक काम करते हुए पाए गए। कुछ बच्चे स्कूल जाने लगे थे लेकिन जल्दी ही वे 'ड्रॉप आउट' हो गए और चौदह वर्ष का होने और कपड़ों के कारखानों में फिर से काम करना शुरू करने तक वे अनौपचारिक अर्थव्यवस्था में काम करने लगे। जबकि यह प्रतिबन्ध बच्चों को कपड़ों के कारखानों से कुशलतापूर्वक बाहर कर सका होगा (जिससे आत्मजागरूक और उदार अमरीकी उपभोक्ता को सुकून मिला, जैसे कि सेनाटोर हार्किन का अन्दाजा था), वास्तव में, इस बिल ने इन बच्चों को ज्यादा हानिकारक काम करने पर मजबूर किया, जिससे बिल की व्यापक नैतिक आवश्यकता प्रभावहीन हो गई।

यह प्रतिबन्ध मूलतः बच्चे को अलग रखने के सामर्थ्य पर आधारित था और इस अलगाव के व्यापक निहितार्थ अकसर 'बाल मजदूरी' को समाप्त करने के विभिन्न प्रयासों में सामान्य समझ के रूप में काम करते हैं। बच्चे को एक अलग व्यक्ति के रूप में इस्तेमाल करने का मुख्य तर्क यह है कि उसे और अधिक आसानी से प्रभावित किया जा सकेगा। यह दो तरीकों से किया जाता है। पहला, हमारी वैयक्तिकरण, जिससे एक व्यक्ति की खास पहचान की ज्यादा स्वीकृति सम्भव हो पाती है, की आम समझ के विपरीत, वर्तमान बहसों में बच्चों को अलग रखना बच्चों को केवल उनके जैविक निशानों तक ही सीमित करना है, जिससे उन्हें सामाजिकता से पूर्व जीव (सामाजिक प्रवृत्ति और आदतों से पूर्व जीव) के रूप में देखा जाता है, जिन्हें शोषण के स्थान से सुधार के स्थान पर स्थानान्तरित किया जा सकता है। न सिर्फ संस्कृति और समुदाय के पहचान चिन्ह बच्चे से मिटा दिए गए हैं, बल्कि इसके साथ-साथ इस व्यक्ति का इतिहास भी मिटा दिया गया है। मात्र शारीरिक उम्र के अनुसार की गई बच्चे की यह संकीर्ण व्याख्या बच्चों की 'मासूमियत' पर जोर देती है और इसके कारण उनकी जिन्दगियों को ऐसे 'अत्यावश्यक' मुद्दे तक सीमित समझा जाता है जिस पर यह अभियान विशेष ध्यान देना चाहता है (बाल मजदूरी, सड़क पर रहने वाले बच्चे, शिक्षा, प्रवसन, इत्यादि)। यह प्रतिबन्ध इन बच्चों की जिन्दगियों का एक तयशुदा ढाँचा अपनाने पर आधारित था, जिसके तहत उन्हें हमेशा पहले से ही चिन्ता के विषय के रूप में अलग किया जाता है। यह सार्वभौमिक अभिव्यक्ति ही स्कूली शिक्षा को बच्चों की जिन्दगियों में विकास का एक अहम पड़ाव मानने के यकीन को स्वाभाविक बनाने में सहायता करती है। एक बाल मजदूर की स्कूल जाने वाले बच्चे में तब्दीली स्कूल जाने वाले बच्चे की एक ऐसी छवि

निर्मित करने में मदद करती है जिसमें स्कूल जाने वाला बच्चा एक ऐसा बच्चा होता है जिसका कोई इतिहास नहीं होता केवल भविष्य होता है। जहाँ एक तरफ, स्कूली भविष्य का भावात्मक निर्माण इस बच्चे के विशिष्ट इतिहास को नकारता है, वहीं वांछित प्रभाव उत्पन्न करने के लिए यह विरोधाभासी ढंग से इसे 'बाल मजदूर' के रिक्त चिह्न में दर्शाता है। इसके अलावा, यह वैयक्तिकरण विकास के विषय के तौर पर इन बच्चों की दोहरी अभिव्यक्ति करता है— पहला, उनकी जैविक उम्र से, जिससे उनका स्वाभाविक 'अस्तित्व सम्बन्धी' विकास सुनिश्चित होता है, और दूसरा इस विश्वास के माध्यम से कि आधुनिकता के स्थानों में समुचित तल्लीनता, जिनमें से औपचारिक शिक्षा सबसे महत्वपूर्ण है, इन गरीब और अलग-थलग बच्चों को 'पूर्ण नागरिक' बनाएगी।

स्कूली शिक्षा की यह संकल्पना बच्चे के लिए सुधार का कार्यक्रम (काम करने की वैधानिक उम्र, स्कूल, और उम्र से जुड़ी कक्षाएँ) निर्धारित करने के लिए बच्चे की भौतिक आयु को मुख्य सन्दर्भ के रूप में मानने के औपचारिकरण से जुड़ी हुई है। हालाँकि, दुनिया की और भी कई जगहों की तरह ही बांग्लादेश के कपड़े के कारखानों के बाल मजदूरों के पास भी जन्म प्रमाण पत्र तो है नहीं, और तो और वे प्रमाण पत्र विरले ही वह मापदण्ड बनाते हैं जिसके तहत बच्चे अपने वृद्धि या वयस्कों के साथ अपने बदलते रिश्तों का आकलन करते हैं। जैसा कि सुसान बिसेल (Susan Bissell) (2003) लिखती हैं, बांग्लादेश के कामकाजी बच्चों ने बच्चे होने और वयस्क होने के बीच स्वयं ही अन्तर स्थापित किए थे और वे अक्सर— 'बड़ा', 'छोटा', या 'बीच का' जैसी भाषा का इस्तेमाल करते हुए बात करते थे। इनमें से किसी का भी उनके शारीरिक कद या सम्पत्ति से कोई लेना-देना नहीं था। बल्कि इन शब्दों का इस्तेमाल परिवार की आय में योगदान करके या घर के ज्यादा से ज्यादा कार्यों को करके उन्हें धीरे-धीरे ज्यादा जिम्मेदारियों में शामिल किए जाने से सम्बन्धित था।¹¹

बच्चों की जिन्दगियों के बारे में बहिष्कार की दोषपूर्ण समझ का एक और पहलू इसका यह अनुमान था कि बच्चे केवल कमाने के लिए काम करते हैं। श्रीलंका को छोड़कर दक्षिण एशिया के बहुत से देशों की तरह बांग्लादेश में भी सभी के लिए स्कूली शिक्षा का प्रावधान इस हद तक असमान रहा है कि जनसंख्या के एक बड़े हिस्से ने अभी हाल ही में स्कूल जाना शुरू किया है। इसे देखते हुए शिक्षित भविष्य का ख्याल, जिसमें औपचारिक योग्यताओं द्वारा दिखाई जाने वाली गतिशीलता

की उम्मीद भी शामिल है, केवल लोगों की जिन्दगियों में इसकी गैरमौजूदगी और इसके लिए उनकी लालसा के रूप में मौजूद है। शिक्षा से इस समग्र बहिष्करण को देखते हुए यह मजदूरों के रूप में लोगों की रोजमर्रा की जिन्दगियों की हकीकत और वे जिन सामाजिक और पारिवारिक तंत्रों का हिस्सा हैं, वह वास्तुरचना बनाते हैं जिनके भीतर वे अपने बच्चों के भविष्य सुनिश्चित करने का प्रयास करते हैं। अभिभावक और परिवार के सदस्य कोशिश करते हैं कि उनके बच्चों, खासकर उनके बेटों को उन कामों में प्रविष्टि मिले जिनमें भरोसा बढ़ने के साथ-साथ धीरे-धीरे कौशलों में भी बढ़ोतरी हो। ऐसी आशा की जाती है कि इन दोनों से ही भविष्य में रोजगार सुनिश्चित होगा। प्रतिबन्ध में यह अनुमान निहित था कि बच्चे कपड़ों के कारखानों में केवल पैसे कमाने जाते हैं, और यह कि भविष्य में इस उद्योग में रोजगार पाने के लिए धीरे-धीरे कौशल सीखने के लिए उनके द्वारा किए गए प्रयास का ज्यादा महत्व नहीं था। हालाँकि यह स्पष्ट तौर पर सच है कि इन बच्चों को जो तनख्वाह मिलती है वह उनके घर चलाने के लिए जरूरी है, फिर भी भविष्य में रोजगार की अपेक्षा एक महत्वपूर्ण कारण है जिसकी वजह से परिवार बच्चों के काम करने को जरूरी मानते हैं।

'स्कूल' की निर्मितियाँ

1999 में कलकत्ता स्कूल न जाने वाले सभी बच्चों को स्कूल में भर्ती करने की शहरी शुरुआत करने वाला भारत का पहला महानगर था। शिक्षालय प्रोकल्प प्रोग्राम सरकार एवं नागरिक समाज की पहल था जिसका उद्देश्य शहर के हर बच्चे को स्कूल में भर्ती कराना था। इस कार्यक्रम को शुरू करने की दिशा में पहला चरण समूचे शहर का व्यापक सर्वेक्षण करना था।¹² सर्वेक्षण किए गए 141 मुहल्लों में 3 से 14 वर्ष की आयु सीमा के तकरीबन एक लाख चालीस हजार बच्चे स्कूल नहीं जाते थे। स्कूल न जाने वाले बच्चों की इतनी बड़ी तादाद सामने आने से इस मुद्दे को नैतिक महत्व तो मिला ही, साथ ही उन्हें स्कूल में भर्ती करने के प्रयासों को व्यापक समर्थन मिला।¹³ UNICEF के कोलकाता में स्थित कार्यालय ने इस पहल के लिए अपना सहयोग दर्शाया। इसके लिए उन्होंने अपने दफ्तर के बाहर एक बैनर लगाया जिस पर लिखा था, "सभी बच्चे स्कूल जाएँ, तो बाल मजदूर नहीं होंगे।"

जहाँ अतीत में इन स्कूल न जानेवाले बच्चों को लिखना व पढ़ना सिखाने के प्रयास किए गए थे, वहीं इस समय उल्लेखनीय यह था कि अब यह बच्चे स्कूल में भर्ती होने वाले थे। हालाँकि, विडम्बनात्मक रूप से इस मुद्दे के नैतिक पहलू की प्रबलता ने उन सभी सवालों को दबा दिया जो उन 'नए' स्कूलों पर उठाए जा सकते थे, जिनमें ये बच्चे भर्ती किए जा रहे थे।¹⁴ मौजूदा सरकारी स्कूलों में ज्यादातर जगह पहले ही भरी होने के कारण, इन नए 'स्कूलों' ने उन इलाकों के आस-पड़ोस के स्थानीय सामुदायिक क्लबों का इस्तेमाल किया जहाँ यह स्कूल न जानेवाले बच्चे रहते थे।¹⁵ सभी को शिक्षा प्रदान करने की योजना एक कमरे की इन छोटी जगहों को हर रोज चन्द घण्टों के लिए 'स्कूल' में परिवर्तित किए जाने पर निर्भर थी। रोज सुबह दीवारों पर सीखने-सिखाने की कई सामग्रियों की व्यवस्था करके, जिन्हें बाद में दोपहर के समय झटपट हटा दिया जाता था, यह माना जा रहा था कि यह 'स्कूल' बच्चों के लिए ऐसी पाठ्यचर्या को सीखना आसान बनाएगा जिसे सरकारी और गैर सरकारी सम्पन्न स्कूलों के बच्चे भी इस्तेमाल कर रहे थे। बच्चों को पहले मिलनेवाली अनौपचारिक शिक्षा से विराम देने के लिए राज्य अधिकारियों ने इन स्कूलों में आधिकारिक प्राथमिक स्कूल की पाठ्यचर्या के शिक्षण की स्वीकृति दे दी थी जिसके चलते इन्हें 'स्कूल' का औपचारिक दर्जा मिल गया। यह क्लब स्कूल पहले से ही पूरी तरह भेदभावपूर्ण थे उस पर सरकार ने यह निर्णय भी ले लिया कि ये स्कूल 'सामुदायिक शिक्षकों' या फिर आस-पड़ोस की महिलाओं को शिक्षकों के तौर पर नियुक्त करेंगे। समुदाय को लेकर सरकार की समझ न सिर्फ इसके लैंगिक स्वरूप के सम्बन्ध में समस्यात्मक थी, बल्कि परोक्ष रूप से वह पक्षपातपूर्ण भी थी क्योंकि गरीब समुदायों में उच्च शैक्षिक योग्यताओं वाली महिलाएँ मिल पाने के आधार कम थे। सरकार ने, 'समुदाय' पर चर्चा की आड़ में, वास्तव में स्कूलों से बाहर रह गए इन बच्चों को ऐसी कम शिक्षित महिलाओं द्वारा शिक्षित किए जाने को मंजूरी दे दी जिनके पास कोई औपचारिक प्रशिक्षण नहीं था। व्यापक सार्वजनिक चर्चा में इस कार्यक्रम को प्रभावशाली मानकर सराहा गया क्योंकि इसमें समुदाय की भागीदारी थी और साथ ही, कम लागत में बच्चों की इस विशाल संख्या तक पहुँच पाने के कारण इसे एक कुशल कार्यक्रम भी माना गया।

2004 में मैंने इनमें से एक क्लब विद्यालय में मानवजाति वर्णन सम्बन्धी शोध किया था जिसमें पचास बच्चे और दो शिक्षक थे।¹⁶ स्कूली शिक्षा का एक सामाजिक प्रथा की तरह शोध करने में उन मूल्यों का अध्ययन किया जाता है जिन्हें बच्चे शिक्षा अर्जन के साथ जोड़ते हैं, और बदले में यह मूल्य व्यापक रूप से उन पहचानों को प्रभावित करते हैं जिन्हें बच्चे सीखनेवालों के तौर पर

गढ़ते हैं। इस स्कूल में आने वाले ज्यादातर बच्चे स्कूल के बाद भी काम करते थे। मोहल्ले के लड़के मुख्यतः चप्पल के छोटे कारखानों में काम करते थे, जो कि आमतौर पर स्टोर के सामने की जगह से ज्यादा नहीं होते थे, जहाँ एक वयस्क माहिर कारीगर और चप्पल बनाने के विभिन्न चरणों में तल्लीन अनेक लड़के या शागिर्द होते थे। चप्पल के कारखाने में नौकरी पाने के लिए समुदाय में जान-पहचान की जरूरत होती थी जो कि सामान्य तौर पर भरोसे, ईमानदारी और रिश्तेदारी के जटिल जाल के द्वारा प्राप्त की जाती थी। यह सम्पर्क अकसर उन सम्बन्धों का खुलासा करते थे जो कि एक परिवार ने पीढ़ी दर पीढ़ी एक खास कारखाने में काम कर के बनाए थे, और काम की उस खास जगह से परिचित किए जाने पर बच्चा इस प्रतीकात्मक पूँजी (symbolic capital) को विरासत में पाता था। शागिर्दी के समान, जहाँ हर एक चरण आगे बढ़ने पर आर्थिक प्रतिफल बढ़ जाता था, ज्यादातर लड़के प्रशिक्षण की क्रमिक परन्तु औपचारिक प्रक्रिया में ही सम्मिलित किए जाते थे। वेतन से मिलने वाला पैसा काफी निराशाजनक था, पर लड़के उनके द्वारा कौशलों को सीखने को अपनी प्रतिष्ठा का ज्यादा महत्वपूर्ण चिन्ह मानते थे। यह तब सामने आया जब स्कूल के एक लड़के ने रेस्त्रॉ में प्लेट धोने का काम शुरू किया और कारखाने में काम करने वाले लड़कों की तुलना में 3 गुना ज्यादा कमाना शुरू कर दिया। तब भी, बाकी लड़के उस लड़के से ईर्ष्या करने की बजाय, उसके लिए बुरा महसूस करते थे। मैंने यह भी देखा कि यह लड़का अपनी प्रचुर अतिरिक्त आय के बारे में कभी-कभी ही बात करता था। बच्चे प्लेट धोने की तुच्छता से और साथ ही इस सच्चाई से भी भली-भाँति परिचित थे कि यह एक दिशाहीन कार्य था जिससे भविष्य के लिए कारगर कोई विक्रयशील कौशल नहीं सीखा जा सकता था। इन बच्चों ने जिन कामों को करना शुरू किया उनके सन्दर्भ में यह अधिक महत्वपूर्ण प्रतीत होता था कि इससे धीरे-धीरे किसी खास कौशल को सीखना सुनिश्चित होता था या नहीं। मोहल्ले की अर्थव्यवस्था के भीतर चप्पल के कारखाने में काम करना लड़कों के लिए नौकरी का उच्चतम सम्भावित अवसर माना जाता था। कार्यों के श्रेणीकरण के द्वारा कौशलों में अभिवृद्धि होना और अन्य स्थानीय उद्योगों की तरह इसमें मशीनरी में निवेश की कोई जरूरत न होना, चप्पल बनाना सीखने को सबसे भरोसेमन्द काम बनाता था।

क्लब स्कूल में पढ़ने वाली लड़कियाँ अकसर गृहस्थी में लिंग के आधार पर निर्धारित अनौपचारिक अर्थव्यवस्था का हिस्सा होती थीं जहाँ घर के काम करने के साथ-साथ वे इकाई की दर से पैसा मिलने वाले काम के जरिये आजीविका कमाने में अपनी माताओं की मदद करती थीं।¹⁷ स्कूल में

पढ़ने वाली तीन बहनें, जिनकी उम्र नौ से ग्यारह वर्ष के बीच थी, हर रोज घर पर बीड़ी (सूखे पत्ते में तम्बाकू भरकर उसे हाथ से लपेटकर बनने वाली सिगरेट) बनाने और उनके बण्डलों के ढेर बनाने में अपनी माँ की मदद करती थीं। कुछ बड़ी उम्र की लड़कियाँ कागज को मोड़कर किताबें बनाने और उन्हें सिलने में अपने परिवारों का हाथ बँटाती थीं। दो लड़कियाँ घरेलू नौकरानी का काम करती थीं और उन्हीं घरों में रहती भी थीं जहाँ वे काम करती थीं। अपने घर के विविध घरेलू कामों को करने के अलावा लड़कियाँ दूसरे घरों में भी काम करती थीं और उन्होंने कहा कि वे आमतौर पर पूरी दोपहर से शाम तक काम करती रहती थीं। इसके अलावा, चूँकि वे ज्यादातर घर पर काम करती थीं, यह लड़कियाँ कारखानों में लगभग दस वर्ष की उम्र में काम शुरू करने वाले लड़कों की तुलना में काफी कम उम्र में ही अनौपचारिक काम शुरू कर देती थीं।

इन बच्चों के लिए लम्बे समय तक काम करना रोजाना स्कूल जाने के उनके दृढ़ उत्साह को कम करता हुआ प्रतीत नहीं होता था। इस क्लब स्कूल की शुरुआत 2001 में हुई थी और इसके हाजिरी रजिस्टर के पचास बच्चों में से लगभग आधे बच्चे स्कूल की शुरुआत से ही यहाँ पढ़ रहे हैं। इन बच्चों ने इससे पहले कहीं और स्कूली शिक्षा नहीं प्राप्त की थी जबकि इनकी उम्र करीब दस से बारह वर्ष थी। कक्षा के बाकी बच्चे उम्र में इन बच्चों से काफी छोटे थे और ज्यादातर बच्चे ऐसे थे जो अपने बड़े भाई-बहनों के साथ स्कूल आते थे। समुदाय की दो शिक्षिकाओं में से एक ने आठवीं कक्षा तक की पढ़ाई की थी और यहाँ बचपन से रह रही थी, जबकि दूसरी शिक्षिका ने दसवीं कक्षा तक पढ़ाई की थी एवं कई सालों पहले अपनी शादी के पश्चात यहाँ आकर रहने लगी थी। यह दोनों ही शिक्षिकाएँ ज्यादातर बच्चों को काफी अच्छे से जानती थीं और उन्हें प्रेमभाव से सम्बोधित करती थीं, जिससे स्कूल के वातावरण में एक तरह की सहजता एवं सुखद आत्मीयता आती थी।

जब मैंने अनौपचारिक रूप से उनके स्कूल के अनुभव पर इन बच्चों के विचारों को आँकने का प्रयास किया, तो उन्होंने आमतौर पर यही जवाब दिया कि शिक्षिकाएँ अच्छा पढ़ाती थीं और वह यहाँ सीख रहे थे, पर यह एक 'असली स्कूल' नहीं था। स्कूल में मेरी रोजाना की मौजूदगी के विषय में पूरी तरह से न पता होने के कारण बच्चे मेरे अनौपचारिक सवालों के जवाब देते हुए भी सावधानी बरतते थे। फिर भी, उनकी यह सावधानी सिर्फ शिक्षिकाओं के बारे में जवाब देने तक ही थी और स्कूल के दायरे के बारे में नहीं। और उन्होंने इसका ध्यान रखा कि मैं गलती से इन

दोनों विषयों को न मिलाऊँ। एक रटे हुए जवाब की तरह मुझे ज्यादातर यही सुनने को मिला कि “यहाँ की शिक्षिकाएँ सख्त हैं और इसी कारण हम नियमित रूप से सीखते हैं पर यह एक असली स्कूल नहीं है”। बच्चों के आदर्श ‘असली स्कूल’ का सीधा मतलब उनके द्वारा एक ऐसी जगह पर बसने की इच्छा से समझा जा सकता है जिसका आकर्षण उनके उस स्थान से बाहर होने के कारण और भी बढ़ जाता है। बच्चों ने इस अनुपस्थिति को अपने चित्रों एवं ‘एक आदर्श विद्यालय कैसा होना चाहिए’ इसके विवरण द्वारा दर्शाया। उन्होंने लम्बी इमारतों के चित्र बनाए जो सुव्यवस्थित ढंग से विभिन्न मंजिलों में बँटी हुई थीं और जिसकी हरेक मंजिल पर अलग-अलग कक्षाएँ थीं जिनमें एक पंखा, एक बत्ती, मेज और एक श्यामपट्ट था जिसके पास एक शिक्षिका खड़ी थी। एक लड़की ने पृष्ठ को आधा बाँटा और एक तरफ स्कूल के बाहर एक खेल का मैदान बनाया जिसमें बच्चे फुटबॉल खेल रहे थे और एक कक्षा बनाई जिसमें एक अलमारी, एक घड़ी, शिक्षक की मेज और एक श्यामपट्ट था जिस पर अंग्रेजी के अक्षर लिखे हुए थे। एक और बच्चे के चित्र में शिक्षक बोर्ड की तरफ इशारा कर रहे थे जिस पर अंग्रेजी के अक्षर लिखे थे और विद्यार्थी अपनी कुर्सियों पर बैठे ध्यान से देख रहे थे। इसके साथ ही, उसने एक सूची की तरह, वह सब भी चित्रित किया जिसकी उसके अनुसार विद्यालय में आवश्यकता थी। इनमें खाने का एक डब्बा, स्कूल का एक बस्ता, जूते, बालों में लगाने वाले फीते, जुराबें और एक वर्दी शामिल थे।

स्कूल के दायरे की अनुशासनिक वास्तुकला और साथ ही साथ ‘स्कूल जाने वाले अन्य बच्चों’ के द्वारा उनकी वर्दियों, बस्तों और फीतों से दर्शाई जाने वाली औपचारिकता दोनों की आभा ‘असली’ को दर्शाती थी। ‘असली स्कूल’ की यह प्रभुत्वशाली (hegemonic) समझ मूलभूत रूप से एक स्कूल की स्वयं को बस्ती की मामूली दैनिक जिन्दगी से अलग कर पाने की अवयवी क्षमता से जुड़ी हुई है। यह क्षमता स्कूल और समाज के अन्तर, जो स्कूल की वर्दी और कक्षा की वास्तुकला में भी दर्ज है, को लगातार प्रदर्शित करने में निहित है। यह समझ वस्तुतः पहले से चली आ रही थी, जिसके चलते, उत्तम इरादों के बावजूद, सामुदायिक क्लब का परिचित दायरा, एक वास्तविक स्कूल के रूप में परिवर्तित नहीं हो पा रहा था। हर बच्चे की असली स्कूल के ‘अमूर्त ढाँचे’ की एक समझ सामाजिक अनुभवों द्वारा विकसित हुई थी और यह क्लब स्कूल उस वास्तविकता के स्तर तक पहुँचने में असमर्थ था जो कि एक ‘स्कूल’ द्वारा उत्पन्न होती है। बच्चों के जीवन में स्थानीय क्लब की जैविकता, उसके आन्तरिक भागों की अन्तरंग जानकारी, इस स्थान में एक निश्चित अनुशासनिक पवित्रता का अभाव और/ या फिर शिक्षिकाओं का उस मोहल्ले में पहले घरेलू महिलाओं

की तरह रहना, इन सब के कारण नए 'स्कूल' को वह जरूरी रौब नहीं मिल पाया जो उसे मिलना चाहिए था।

यद्यपि क्लब स्कूल कभी भी एक 'असली स्कूल' की शकल नहीं ले पाया, फिर भी उसमें पढ़ने वाले विद्यार्थियों ने दावा किया कि वे यहाँ आकर सीखते थे। वे इस स्थान पर खुश प्रतीत होते थे, शिक्षिकाओं से खुश थे, अपने दोस्तों के साथ खेलने के लिए मिलने वाले अवसर से खुश थे जिनसे वे अन्यथा सिर्फ रविवार को *कारखाना* बन्द होने पर मिल पाते। फिर भी, वे स्कूली के इस अनुभव को सिर्फ लिखने-पढ़ने के बुनियादी कौशलों को सीखने के तौर पर मानते थे, ऐसा कुछ जिससे उन्हें अपने भविष्य में कोई बदलाव नहीं दिखता था। साक्षरता के इन कौशलों को सिखाना शिक्षा के अनौपचारिक कार्यक्रमों का उद्देश्य था जो कि शहर भर में चलाई जा रही स्कूली शिक्षा की इस पहल से पहले आया था, और 'स्कूल' जैसा अलगाव उत्पन्न करने का इरादा रखते थे वैसा इन बच्चों की जिन्दगियों में लाने में सफल नहीं हो सके। यूनिसेफ के कार्यालय के बाहर टँगा हुए पोस्टर द्वारा हमें दिलाए जाने वाले विश्वास के विपरीत क्लब स्कूल इन कामकाजी बच्चों की पहचान को स्कूल-शिक्षित अभ्यर्थी की पहचान में सफलतापूर्वक परिवर्तित नहीं कर पाए हैं। 'स्कूल-शिक्षित अभ्यर्थी' में यह रूपान्तरण स्कूल की भौतिक जगह के साथ गहराई से जुड़ा हुआ प्रतीत होता है।¹⁸ एक कामकाजी बच्चे की स्कूल में शिक्षित आदर्श में तब्दील होने की असफलता केवल इस परिचित विश्वास को और भी दृढ़ कर देती है कि श्रम की दुनिया में बच्चे का और अधिक समावेश ही उसे भविष्य के व्यवसाय के लिए सम्भव प्रशिक्षण प्रदान कर सकता है।

मोहल्ले के कामकाजी बच्चों के लिए, *कारखाना* एक ऐसी ठोस सम्भावना प्रदान करता प्रतीत होता था जिसमें बच्चे अपने भविष्यों की कल्पना कर पाते थे। अपनी उत्कृष्ट रचना *लर्निंग टू लेबर (Learning to Labor)* में पॉल विलिस यह तर्क देते हैं कि मजदूर वर्ग के लड़कों की संस्कृति की वजह से वे वह हाथ के काम करते हैं और इस संस्कृति से ही उन्हें वास्तविक सीखने एवं आत्मस्वीकृति की अनुभूति होती है। उनके स्कूल एवं घर के अनुभवों के खाके में व्यक्तिगत विश्वासों के बनने के विश्लेषण के द्वारा, विलिस यह दर्ज करते हैं कि किस प्रकार इन मजदूर वर्ग के लड़कों की प्रतिकूल संस्कृति कारखाने की संस्कृति की ही नकल उतारती है।¹⁹ जबकि कोलकाता में जिस समुदाय पर शोध किया गया, वह अपने बच्चों के लिए औपचारिक स्कूली शिक्षा की चाह रखता था, परन्तु इन जगहों पर उनके व्यक्तिगत अनुभव सम्भावित बदलाव की उनकी

वस्तुनिष्ठ समझ के विपरीत थे, और इसकी वजह से वे इस जगह को 'स्कूल' नहीं मानते थे। बच्चे, अपने स्कूली शिक्षा के अनुभवों को लिखने-पढ़ने के बुनियादी कौशलों की सीख मानकर, खुद को प्रभावी रूप से स्कूल में शिक्षित आदर्श में नहीं बदलने देते थे और कारखाने की अपनी पहचानों द्वारा और उसके द्वारा मिलने वाले भविष्यों से खुद को प्रदर्शित करने लगते थे।

इन सामुदायिक क्लबों का स्कूलों में उपरोक्त परिवर्तन एक ऐसे ऐतिहासिक क्षण का प्रतीक है जिसमें एक अन्तरराष्ट्रीय घोषणा पत्र द्वारा बच्चों के जीवन की विशिष्ट दोहरे निर्मिति का विमर्शात्मक प्रभुत्व एक साझा समझ बन गया प्रभाव था। क्लब स्कूल पूरे भारत में व्यापक स्तर पर शिक्षा प्रदान करने के लिए एक कमरे के स्कूल बनाए के कई अन्य प्रयासों से काफी मिलता-जुलता है। इसके अलावा विभिन्न राज्यों की सरकारों ने भी, ऐसे पैरा शिक्षकों को रोजगार प्रदान करने हेतु 'समुदाय' के विमर्शों को प्रयोग में लाना शुरू किया जिनके पास अक्सर केवल आठवीं तक की शिक्षा और चन्द महीनों की ट्रेनिंग है।²⁰ दरअसल, अन्तरराष्ट्रीय नीतिगत प्रयासों के साथ नव उदार राज्यों ने जहाँ स्कूल न जाने वाले बच्चों की शिक्षा के प्रति चिन्ता के स्तर को बढ़ाया है, वहीं साथ ही शिक्षा का एक ऐसा ढाँचा स्थापित किया है जो भारत में पहले से मौजूद शिक्षा के अन्यायपूर्ण ढाँचे को और भी मजबूत कर देता है। जैसा कि उपरोक्त उदाहरण से स्पष्ट होता है, यह स्कूल बच्चों के दिमाग में एक सुरक्षित कल या फिर एक शिक्षित भविष्य के वादे को रोपित करने में असमर्थ रहते हैं। इस असफलता के कारण बच्चे इन स्कूलों को अनौपचारिक शिक्षा योजनाओं की ही तरह लिखना-पढ़ना सीखने से ज्यादा नहीं समझते, और इसीलिए वे भविष्य में रोजगार सुनिश्चित करने हेतु किसी कारोबार में शागिर्द बनने पर भरोसा रखते हैं।

'श्रम' की निर्मितियाँ

बाल मजदूरी एवं औपचारिक स्कूली शिक्षा के बीच मौजूदा दोहरा विकल्प इस पूर्वानुमान के साथ कार्य करता है कि अगर एक बार बच्चे स्कूल जाना शुरू कर देते हैं, तो शारीरिक श्रम में उनकी भागीदारी अपने आप ही खत्म हो जाएगी। जैसा कि पहले चर्चा की गई थी, यह न सिर्फ उन अधिकांश छात्रों की जिन्दगियों के लिए सही है जिन्हें अब स्कूल में नामांकित किया जा रहा है, बल्कि यह पूर्वानुमान उन तरीकों पर सवाल उठाने में भी असमर्थ है जिनसे स्कूली पाठ्यचर्या

‘दिमागी’ काम को उच्च क्षमताओं के प्रयोग वाला और इसलिए ‘शारीरिक’ श्रम से अधिक मूल्यवान मानने की पुष्टि करती है। कामकाजी बच्चों और स्कूली शिक्षा पर किए जाने वाले वर्तमान शोध इस बात पर ध्यान देने की ओर उन्मुख रहा है कि कोई बच्चा कितने समय तक काम कर सकता है ताकि वह काम भी कर सके और स्कूल भी जा सके।²¹ और जबकि यह व्यापक तौर पर काम के लिए स्वीकार्य न्यूनतम घण्टों की संख्या को संस्थापित करने में महत्वपूर्ण है, इसके दायरे में औपचारिक स्कूली शिक्षा द्वारा बच्चों के स्व-निर्माण पर, विशेषकर शारीरिक कार्य से लम्बे समय तक जुड़े रहने की वजह से पड़ने वाले प्रभाव सम्मिलित नहीं हैं।

2000-01 में मैं एक ऐसे अध्ययन का हिस्सा थी जिसमें उत्तर भारत के दो राज्यों के स्कूलों में पढ़ने वाले *दलित* (नीची जाति) और *आदिवासी* (जनजातीय) बच्चों के अनुभवों पर शोध किया गया था। इनमें से ज्यादातर बच्चे अपने परिवार की पहली पीढ़ी थे जो स्कूल जाने के साथ काम भी करते थे, और इस शोध ने इन बच्चों द्वारा स्कूल में अनुभव किए जाने वाले बहिष्कार को दर्ज करने में सहायता की। इन स्कूलों के उच्च जाति के शिक्षक ऐसा मानते थे के इन बच्चों के सीखने की क्षमता निराशाजनक है और उनके हाव-भाव में यह बहिष्करण स्पष्ट जाहिर थे। *दलित* और *आदिवासी* बच्चों के सीखने के प्रयासों का वर्णन करने के लिए शिक्षक अक्सर "यह बच्चे मन्दबुद्धि हैं" जैसे वाक्यों का प्रयोग करते थे। यह स्पष्ट भेदभाव, जहाँ जाति पक्षपात के मायनों में अत्यन्त समस्यात्मक था, वहीं इससे वह तरीके स्पष्ट हुए जिससे स्कूल की संस्था ऐसे मानक को बढ़ावा देती है जिसके तहत कुछ बच्चों को अन्य बच्चों की तुलना में सीखने के लिए अधिक उपयुक्त माना जाता है। यद्यपि यह स्कूली मानक स्पष्ट तौर पर एक उच्च जाति *हैबिटस* (*habitus*) का पक्ष लेता है, यह पक्षपात दिलचस्प रूप से विभिन्न तरीकों से सामने आता है जिसमें इसकी केन्द्रीय संरचना एक ऐसे बिन्दु पर होती है जिसके इर्द गिर्द सीखने की क्षमता की सर्वाधिक धारणाएँ स्थापित की जाती हैं, अर्थात् एक विद्यार्थी के जीवन में शारीरिक श्रम का ना होना।

सभी बच्चों का स्कूल में नामांकन कराने की मौजूदा मुहिम से उन तरीकों की कल्पना में ज्यादा बदलाव नहीं आया है जिनसे स्कूली शिक्षा को इस संस्था में आने वाली नए लोगों की जरूरतों के अनुसार बदलने की आवश्यकता है। गृहकार्य पर अत्यधिक निर्भरता जो कि एक बच्चे के रोजमर्रा के सीखने के अनुभवों को निर्मित करता है ना सिर्फ यह मानता है कि बच्चा एक शिक्षित घर के

परिवेश से आ रहा है, बल्कि यह भी विश्वास करता है कि स्कूल के समय के बाद बच्चे के पास गृहकार्य करने हेतु पर्याप्त समय उपलब्ध होगा। स्कूली शिक्षा में लड़कियों की भागीदारी के निम्न दरों के सन्दर्भ में इस घरेलू कार्य के लैंगिक स्वरूप ने नीति निर्माताओं का ध्यान आकर्षित किया। फिर भी इस बोध ने सामान्य रूप से भारतीय कक्षाओं में गृहकार्य को एक महत्वपूर्ण अंश के तौर पर अत्यावश्यक भूमिका दिए जाने को सम्बोधित नहीं किया है। गृहकार्य, अकसर रटकर, स्कूल में सिखाई गई चीजों को पुनर्बलित करने का तरीका है और इसलिए यह ऐसा कुछ है जिस पर बच्चे को हर रोज स्कूल के बाद कम से कम तीन से चार घण्टे समय लगाना होता है। गृहकार्य में लगने वाले समय को एक कामकाजी बच्चे की स्कूल के बाद मजदूरी से सम्बन्धित कार्यों में व्यस्तता के साथ शायद ही कभी मिलाया जा सकता है।

कलकत्ता जैसे शहरी बच्चों के विपरीत, ग्रामीण क्षेत्रों के बच्चों द्वारा किया जाने वाला अधिकतर शारीरिक श्रम खेती के काम से सम्बन्धित होता है जिससे इनके परिवार अपनी रोजी-रोटी कमाते हैं। इसमें पशुओं को चराने से लेकर अनाज को छाँटने में सहायता करने तक के सभी कार्य शामिल हो सकते हैं, और स्कूल कैलेंडर इस मौसमीपन को, जो कि खेती-बाड़ी के कार्य का एक अत्यावश्यक अंग है, समायोजित करने में असमर्थ होता है। नव उदारवादी राज्य की नीतियों से होने वाले विस्थापन और प्राकृतिक क्षरण के कारणों से बहुत से परिवारों की आजीविका खतरे में है, और गरीब परिवारों की बढ़ती संख्या एक निर्वाह योग्य वेतन कमाने के लिए अल्पावधिक प्रवास पर निर्भर है। ये परिवार अकसर फसल कटाई के समय प्रवास करते हैं जब इनकी अतिरिक्त मजदूरी की जरूरत होती है, और यह प्रवास सामान्यतः साल में दो बार होता है, सोयाबीन की फसल के लिए अक्टूबर से नवम्बर के महीनों में और गेहूँ की फसल के लिए अप्रैल में। यह प्रवास अकसर एक महीने की अवधि के लिए होते हैं, और यद्यपि यह जरूरी नहीं कि बच्चे प्रवास करें, फिर भी इस अवधि में स्कूल में उनकी उपस्थिति में जबरदस्त गिरावट आती है क्योंकि वह प्रवास कर चुके परिवार के सदस्यों के हिस्से का घर का और खेती-बाड़ी का काम करते हैं। अप्रैल में प्रवास और स्कूल की परीक्षा दोनों एक साथ होते हैं, जिसके कारण भारी संख्या में बच्चे अनुत्तीर्ण हो जाते हैं और हर वर्ष स्कूल छोड़ देते हैं।

उपरोक्त दो उदाहरण ऐसे कुछ तरीकों के बारे में बताते हैं जिनसे 'विद्यार्थियों' के अधिगम के मापन को दर्ज किया जाता है, न सिर्फ बच्चे द्वारा स्कूल में बिताए जाने वाले समय में पर उससे

भी ज्यादा महत्वपूर्ण है उन अतिरिक्त घण्टों में जो बच्चा घर पर होते हुए स्कूल के कार्य में लगाता है। कामकाजी बच्चों द्वारा इस अपेक्षित समय को समर्पित करने की असमर्थता और साथ ही योग्यता के किसी स्तर पर पहुँचने तक पढ़ने की चाह रखना, अकसर यही बताता है कि स्कूली शिक्षा का इनका अनुभव एक संघर्ष होता है जिसके दौरान वे धीरे-धीरे यह मानने लगते हैं कि सीखने का उनका असामर्थ्य जन्मजात है। इसके साथ ही, भारत में औपचारिक स्कूली शिक्षा को आकार देनेवाली प्रभुत्वशाली विचारधारा और जो काफी हद तक 'दुभाषियों' के एक वर्ग को तैयार करने की औपनिवेशिक जरूरत से प्रभावित रही है— वह 'दिमागी' व्यवसायों को ज्यादा प्रतिष्ठित और स्कूली शिक्षा पूरी करने वाले बच्चों द्वारा किए जाने वाले एकमात्र कार्य के तौर पर आदर्शकृत करती है। स्कूल में न सीख पाने की निराशा, और इसके साथ बच्चे को धीरे-धीरे शारीरिक श्रम की तुच्छता पर यकीन दिलाने की स्कूली शिक्षा की क्षमता, का अकसर यह नतीजा होता है कि अधूरी शिक्षा प्राप्त किए हुए यह कामकाजी बच्चे, ना तो स्कूली शिक्षा ही जारी रख पाते हैं और ना ही स्कूल द्वारा इनके मन में बैठा दिए गए 'दिमागी' श्रम के प्रभुत्व से पीछा छुड़ा पाते हैं। एक *आदिवासी* पिता, कालूराम, इस दुविधा को काफी हद तक उचित तरीके से स्पष्ट करते हैं जब वे कहते हैं, "मेरा बेटा ना तो घर के लिए उपयुक्त है न ही खेतों के लिए।" यह कहने से उनका तात्पर्य यह है कि उनके बेटे के पास एक औपचारिक नौकरी पाने के लिए अपेक्षित शिक्षा नहीं है, जिसके मिलने से उसे शारीरिक श्रम से निजात मिल सकती है, ना ही वह लड़का अब शारीरिक श्रम (खेतों में) करना चाहता है क्योंकि औपचारिक स्कूली शिक्षा के माध्यम से यह बात उसके मन में मजबूती से बैठा दी गई है कि दिमागी काम श्रेष्ठ होता है।²²

नव उदारवादी राज्य की आर्थिक नीतियों के अन्तर्गत इन समुदायों के बढ़ते हुए दरिद्रीकरण की वजह से इन बच्चों द्वारा किया जानेवाला शारीरिक श्रम इनके अभिभावकों के निर्वाह के लिए अत्यावश्यक बना हुआ है। कालूराम की कहानी से यह स्पष्ट होता है कि यह *आदिवासी* अभिभावकों की अपने बच्चों को स्कूल भेजने की रुचि या उत्सुकता को किसी भी प्रकार से प्रभावित नहीं करता है। परन्तु स्कूल में सीखने और स्कूली शिक्षा खत्म करने के बाद भी नौकरी पाने, दोनों में ही उनके बच्चों की 'असफलता' की वजह से इन अभिभावकों के लिए यह जरूरी हो जाता है कि वे शारीरिक श्रम के लिए अपने बच्चों की क्षमताएँ और रुझान बचाकर रखें। अतः यह औपचारिक स्कूली शिक्षा जिस व्यापक 'बहिष्कार' को प्रकट करती है— और जैसा कि *आदिवासी* अभिभावक द्वारा व्यक्त किया गया, जब वह कहते हैं कि, "ना तो घर के लायक न ही खेतों के"— ऐसा

बहिष्कार नहीं है जिसे स्कूल और मजदूरी के बीच का दोहरा विकल्प आसानी से समायोजित कर पाए।

यह दोहरा विकल्प एक काल्पनिकता का उपयोग करता है जिसकी दक्षता इस पर निर्भर करती है कि औपचारिक स्कूली शिक्षा इस बच्चे की मजदूर की वर्तमान जिन्दगी से दूरी को कितना बढ़ा सकती है। बच्चों को स्कूल में नामांकित करने के मौजूदा अभियान औपचारिक स्कूली शिक्षा द्वारा बच्चों को भविष्य में उपलब्ध कराए जाने वाले 'अवसरों' के बारे में किसी संशय की ओर इशारा नहीं करते हैं। 'अवसर' की इस कल्पना में औपचारिक स्कूली शिक्षा के द्वारा सभी वर्गों के लिए बराबर गतिशीलता की स्वीकृति निहित है। यह दृष्टिकोण, कि अबाधित सामाजिक गतिशीलता प्राप्त की जा सकती है, इस अन्तर्निहित विचारधारा पर आधारित है कि 'कड़ी मेहनत' और बच्चे की ओर से एक विशेष आज्ञापरायणता की वजह से वह स्कूल में कामयाब हो जाएगा और बाद में उसे आसानी से नौकरी भी मिलेगी। नब्बे के दशक के मध्य में कोलकाता में सड़क पर रहने वाले बच्चों के एक समूह के साथ मेरे मानवजाति वर्णन शोध (ethnographic research) में, स्कूल में नामांकन का उनके लिए क्या अर्थ था इसे वर्णित करने के लिए वे जिस कठोर भाषा का इस्तेमाल करते थे, मैं उसे दर्ज कर पाई। ज्यादातर बच्चों के लिए स्कूली शिक्षा के बिना एक जीवन 'खटनी' या कठिन परिश्रम का जीवन था। जहाँ खटनी नौकरी में कठिन शारीरिक श्रम की जरूरत थी, वहीं जिनके पास गैर-खटनी नौकरियाँ होती थीं वे दफ्तरों में डॉक्टरों, वकीलों या उद्योगपतियों के रूप में कार्य करते थे। जिन खटनी नौकरियों को ये लड़के कमतर मानते थे, उनमें किसानों, मजदूरों, कुलियों के रूप में काम करना शामिल था, ये आजीविका के ऐसे साधन थे जिनमें ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले इनके अभिभावक लगे हुए थे। इसमें निहित प्रतीकात्मक हिंसा (symbolic violence) उस चर्चा में और भी उजागर होती है जिसका प्रयोग लड़के औपचारिक स्कूली शिक्षा के प्रति अपनी चाह के लिए करते थे, अर्थात् औपचारिक स्कूली शिक्षा उन्हें 'मानुष' या इन्सान बनने में मदद करेगी।²³ जैसे एक लड़के ने पीठ पर सब्जियाँ ढोकर थोक बाजार में ले जाते हुए विक्रेताओं की तरफ इशारा करते हुए सारगर्भित ढंग से मुझसे कहा, "आँटी मैं बड़ा होकर उनके जैसा नहीं बनना चाहता। केवल यहाँ बैठकर ट्रेन के आने की प्रतीक्षा करना और जब वह आए तो सब्जियाँ ढोकर बाजार तक पहुँचाना। इसीलिए मैं पायलट बनने के लिए स्कूल जा रहा हूँ। कम उम्र में कड़ी मेहनत करना बेहतर है ताकि बड़े होने पर आप मानुष बन सकें।" इस सन्दर्भ में मानुष बनने का अर्थ शारीरिक मजदूरी करने वालों, जैसे कि सब्जी बेचने वाले, की जिन्दगियों

को नीचा दिखाने और स्कूली शिक्षा द्वारा प्रस्तुत किए जाने वाले दिमागी श्रम के द्वारा ऐसे जीवन से छुटकारा पाने की कोशिश से गहराई से जुड़ा है।

यह दोहरा विकल्प, शारीरिक श्रम और औपचारिक स्कूली शिक्षा (दिमागी कौशलों) के बीच के इस अलगाव को पुनर्बलित करके, शारीरिक श्रम को कम उपयोगी, तुच्छ और जिसमें कौशलों की आवश्यकता नहीं होती ऐसा कार्य मानने के सांस्कृतिक रूप से प्रबल विचार को बनाए रखने में सहायता करता है। औपचारिक स्कूली शिक्षा और भविष्य में उससे पैदा होने वाले 'अवसर' के पवित्रीकरण में, बच्चों को 'बचाने' के मौजूदा प्रयास शारीरिक श्रम और दिमागी श्रम के बीच के द्विभाजन की आलोचना प्रदान करने में जानबूझकर असफल रहे हैं। इस प्रकार इन शैक्षिक कार्यक्रमों— औपचारिक स्कूली शिक्षा जिनके केन्द्र में हैं— के असम्बद्ध कार्य के द्वारा एक शहरी, बुर्जुआ, वर्ग-विशिष्ट वैश्विक नजरिया आदर्श 'मानव' की परिभाषा में परिवर्तित हो जाता है। स्कूल जानेवाले इन पहली पीढ़ी के बच्चों के सन्दर्भ में, यह उनके अभिभावकों के रोजगार और साथ ही साथ उनकी खुद की पिछली और वर्तमान वास्तविकताओं में निहित हीनता की ओर संकेत करता है। इसके अतिरिक्त, इन्सान होने या *मानुष* बनने को गैर-*खतनी* नौकरियों से जोड़ने का विचार और भी अधिक क्रूर है, राज्य द्वारा स्कूली शिक्षा के प्रावधान में पक्षपात और स्कूल में निहित नियामक धारणाओं की वजह से औपचारिक स्कूली शिक्षा में आसानी से भाग लेने में बच्चों की असमर्थता की वजह से इन बच्चों द्वारा इन नौकरियों को पाने की सम्भावना न के बराबर होती है।

निष्कर्ष

ऊपर लिखे लेख का अभिप्राय यह नहीं है कि बाल मजदूरों का औपचारिक स्कूलों में नामांकन नहीं होना चाहिए। 'अधिकार' विमर्श में निहित उदार विचारधारा और उसके द्वारा समानता के एक विशेष परिवेश (यानि कि औपचारिक स्कूली शिक्षा) के निर्माण में कथनी और वास्तविकता के बीच के अन्तर का खुलासा, कामकाजी बच्चों द्वारा इस परिवेश के अनुभव की मदद से करने की जरूरत है। यह एक ऐसी स्थिति की तरफ इशारा करता है जिसकी जटिलताएँ नीतिगत दिशा-निर्देशों में तब तक आसानी से वर्गीकृत नहीं की जा सकती हैं जब तक कि हम सत्ता के उन

व्यापक तंत्रों को गम्भीरता से लेना न शुरू करें जो उस जनसंख्या के आत्मनिर्माण, जीवन और आजीविकाओं को आकार देते हैं जिन्हें हम स्कूल के दायरे में लाने की चाह रखते हैं।

अगर हम हाशिए के इन लोगों की औपचारिक स्कूली शिक्षा के लिए चाह और इनके मौजूदा अनुभवों की दुनिया के प्रति स्कूलों की अनादरपूर्ण कार्य पद्धति, दोनों को एक साथ रखकर देखें तो सभी बाल मजदूरों को स्कूल में नामांकित कराने के मौजूदा मुहिम की रूपरेखा का अन्तर्विरोधी दबाव स्पष्ट हो जाता है। इन विरोधाभासों को सम्बोधित करने की शुरुआत तभी हो सकती है अगर न्यायपरस्ता एवं स्कूली शिक्षा पर मौजूदा शोध के अन्तर्गत मानक बचपन की उन धारणाओं पर प्रश्न उठाए जाएँ जिन्हें सहज बनाने में स्कूल का मूर्त स्थान मदद करता है। स्कूली शिक्षा के साथ हाशिए के बच्चों के 'नाकामयाब' अनुभवों को समझने के लिए यह सैद्धान्तिक ढाँचा जो सम्भावनाएँ प्रदान करता है उन्हें समझने के लिए स्कूल जाने वाले बच्चों के आय अर्जन की गतिविधियों से स्वतः प्रमाणित अलगाव पर बहुलता वाले बचपनों के दृष्टिकोण से फिर से विचार करना चाहिए।

नोट्स

¹इस दोहरे विकल्प का मौजूदा स्व-प्रमाणित अस्तित्व इसे बीसवीं शताब्दी में पश्चिम में एक वास्तविकता बनाने के दीर्घकालिक अतीत का आवरण करता है। देखें फिलिप मैककान (Phillip McCann) ed., *Popular Education and Socialization in the Nineteenth Century* (London: Methuen & Co. Ltd., 1977) और ब्रायन साइमन (Brian Simon), *Education and the Labour Movement 1870-1920* (London: Lawrence and Wishart, 1965)। भारत के सन्दर्भ में, राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) यह कहती है कि, इन बच्चों को स्कूल में दाखिल कराने की असम्भवता को देखते हुए, शिक्षा के अनौपचारिक कार्यक्रम अधिक वांछनीय थे। अनौपचारिक शिक्षा को औपचारिक स्कूलों से अधिक लचीला माना जाता था, और इसलिए यह खुद को इन बच्चों के जीवन एवं रुचियों के इर्द-गिर्द ढाल सकती थी। हाशिये पर जीने वाले इन बच्चों के बचपन को सुधार न किए जा सकने की हद तक खोया हुआ समझा जाता था, और इसलिए 1990 की शुरुआत तक सभ्य समाज (civil society) की पहल द्वारा बुनी गई सम्भावनाओं का क्षेत्र इन हाशिए पर जीने वाले बच्चों का सामान्य, आत्मनिर्भर और परिश्रमी वयस्कों में समाजीकरण करना था।

² देखें सारदा बालगोपालन (Sarada Balagopalan), "Constructing Indigenous Childhood: Colonialism, Vocational Education and the Working Child," *Childhood* 9(1) (2002): 19-34; जो बॉयडेन (Jo Boyden), "Childhood and Policy Makers: A Comparative Perspective on the Globalization of Childhood"

Constructing and Reconstructing Childhood: Contemporary Issues in The Sociological Study of Childhood, दूसरा संस्करण, एलिसन जेम्स (Allison James) और एलन प्रौट (Alan Prout) eds. (London: Falmer Press, 1997), 190-229 में; and Olga Niewenhuys, "Global Childhood and the Politics of Contempt," *Alternatives* 23(3) (1998): 267-89.

³ गरीब समुदायों में अपने बच्चों की स्कूली शिक्षा में कम रुचि होने को बच्चों के स्कूल ना जाने के एक अहम कारण के रूप में देखा गया। तो भी, हाल में हुए शोध ऐसा दर्शाते हैं कि यही समुदाय अपने बच्चों को स्कूल भेजने में रुचि रखते हैं और उन्हें स्कूल भेजने के इच्छुक हैं। देखें आर. गोविन्दा (R. Govinda), ed., *India Education Report* (New Delhi: Oxford University Press, 2002).

⁴ इन चर्चाओं के एक संक्षिप्त सार के लिए माइकल बूर्दिलोन (Michael Bourdillon), "Children and Work: A Review of Current Literature and Debates," *Development and Change* 37:6 (2007): 1201-26 देखें।

⁵ फिलिप एरीज़ (Philippe Aries) ने *Centuries of Childhood*, trans. रॉबर्ट बाल्डिक (Robert Baldick) (London: Jonathan Cape, 1962) में यह चर्चा की कि किस प्रकार जीवन के एक विशिष्ट चरण के रूप में बचपन की आधुनिक वैचारिकता का उद्गम पन्द्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों के बीच में परिवार, निजता और वैयक्तिकता के बुर्जुआ विचारों के उभरने से जुड़ा था। और हालाँकि अन्य इतिहासकारों जैसे कि लॉयड डीमाउस (Loyd DeMause) ed., *The History of Childhood* (London: Souvenir Press, 1976); Barbara Hanawalt, *Growing Up in Medieval London* (New York: Oxford University Press, 1993); लिंडा पोलॉक (Linda Pollock), *Forgotten Children: Parent-Child Relations from 1500-1900* (Cambridge: Cambridge University Press 1983), एरीज़ से कुछ बिन्दुओं पर असहमत हैं फिर भी बचपन के निर्मित स्वरूप पर कोई दोराय नहीं है।

⁶ देखें *Children and the Politics of Culture*, शेरोन स्टीफेंस (Sharon Stephens) ed. (Princeton: Princeton University Press, 1995), 79-104 में मर्लिन इवी (Marilyn Ivy), "Have You Seen Me? Recovering the Inner Child in Late Twentieth-Century America,"; जैकलिन रोज (Jacqueline Rose), *The Case of Peter Pan: The Impossibility of Children's Fiction* (London: Macmillan, 1984); नैन्सी शेपर-हग्स (Nancy Scheper-Hughes) और कैरोलीन सार्जेंट (Caroline Sargeant), eds. *Small Wars: The Cultural Politics of Childhood* (Berkeley: University of California Press, 1998); और वालेरी वॉकरडाइन (Valerie Walkerdine), *Daddy's Girl: Young Girls and Popular Culture* (Boston: Harvard University Press, 1997).

⁷ देखें विव्याना ज़ेलिज़र (Vivianna Zelizer), *Pricing the Priceless Child: The Changing Social Value of Children* (Princeton: Princeton University Press, 1994) और जैक्स डॉन्ज़ेलो (Jacques Donzelot), *The Policing of Families* (New York: Pantheon Press, 1979).

⁸ 'बाल मजदूरी' पर अन्तरराष्ट्रीय मजदूर संघ की समझ ऊपर बताई गई बचपन की दो भिन्न धारणाओं के बीच जटिलता से गुँथी हुई प्रतीत होती है। इस मुद्दे पर उनकी हालिया रिपोर्ट, *The End of Child Labor: Within Reach* (2006), काम के साथ बच्चों के रिश्ते को समझने के लिए तीन श्रेणियों का उपयोग करती है। इनमें से पहली श्रेणी है 'आर्थिक गतिविधि' जो कि एक कानूनी श्रेणी के बजाय एक सांख्यिकीय श्रेणी है जिसमें बच्चों द्वारा बाजार के लिए और साथ ही साथ उसके अलावा की गई उत्पादक गतिविधियाँ शामिल होती हैं। किसी बच्चे को आर्थिक रूप से सक्रिय मानने के लिए बच्चे द्वारा सात दिन की अवधि में, अपने स्वयं के घर और स्कूल के कार्यों के अतिरिक्त, कम से कम एक घंटा कार्य किया गया होना चाहिए। दूसरी श्रेणी 'बाल मजदूरी' की है। यह ILO के न्यूनतम आयु सम्मलेन (minimum age convention) 1973 पर आधारित है और इसमें बारह वर्ष से अधिक आयु के वे बच्चे शामिल नहीं किए गए हैं जो सप्ताह में चन्द घण्टों के लिए उन हल्के-फुल्के कामों को करते हैं जिन्हें करने की उन्हें अनुमति है। इसमें पन्द्रह वर्ष और उससे ज्यादा की आयु के वे बच्चे भी नहीं आते जिनके काम को 'जोखिम भरा' के तौर पर वर्गीकृत नहीं किया गया है। तीसरी श्रेणी 'जोखिम भरे कार्यों' की है और यह बच्चों द्वारा की जाने वाली ऐसी किसी भी गतिविधि या व्यवसाय को सन्दर्भित करती है जिनका बाल मजदूर की सुरक्षा, स्वास्थ्य (शारीरिक और मानसिक दोनों) और नैतिक विकास पर नकारात्मक प्रभाव होता है। बच्चों के काम करने के मुद्दे को जिस तरह से सम्बोधित करने की जरूरत है इसमें ILO की जटिल स्थिति सामने आती है। ILO बच्चों के अधिकारों के विचार की ओर काफी कम ध्यान देता है।

⁹ देखें एलिसन जेम्स (Allison James) और एलन प्रौट (Alan Prout), ed. *Constructing and Reconstructing Childhood*.

¹⁰ मायर्स के अनुसार, एक हफ्ते में दस घण्टे घर से बाहर काम करना स्कूल में बच्चे के प्रदर्शन को प्रभावित नहीं करता है। विलियम मायर्स (William Myers), "Can Children's Work and Education be Reconciled?" *International Journal of Educational Policy, Research and Practice* 2(3) (2001): 307-30.

¹¹ *Child Labour and the Right to Education in South Asia: Needs versus Rights?*, नैला कबीर (Naila Kabeer), गीता नम्बिस्सन (Geetha Nambissan) और राम्या सुब्रह्मण्यम (Ramya Subrahmanian) eds. (New Delhi: Sage Publications, 2003) में Susan Bissell, "The Social Construction of Childhood: A Perspective from Bangladesh,"

¹² सर्वेक्षण के तहत, अभिभावकों से बच्चों को स्कूल न भेजने के कारण बताने को कहा गया। दिए गए जवाबों में से, सबसे ज्यादा दिया गया जवाब यह था कि वे स्कूल से जुड़े खर्चों अर्थात् किताबों, वर्दी आदि का खर्च उठा पाने में असमर्थ थे। साथ ही, यह जानना भी दिलचस्प है कि विकल्प 'स्कूल उबाऊ है' को भी सभी आयु वर्गों में काफी लोगों ने उत्तर के लिए चुना और विकल्प 'स्कूल व्यर्थ है' को बच्चों के स्कूल में न होने के जवाब के रूप में काफी कम लोगों ने चुना।

¹³ कलकता में SPK स्कूलों के अतिरिक्त, खुद पश्चिम बंगाल में, ऐसे 11,000 स्कूल इस पूरे राज्य में भी पाए जा सकते हैं (जिन्हें शिशु शिक्षा केन्द्र कहा जाता है) जो कि स्पष्टतया बाल मजदूरों के लिए बनाए गए हैं। पश्चिम बंगाल में स्कूली शिक्षा का यह घोर न्यायविरुद्ध प्रावधान चौंकाने वाला है क्योंकि इस राज्य की सत्ता में लगातार सबसे लम्बे समय तक सेवा देनेवाली चुनी गई साम्यवादी सरकार है।

¹⁴ भारत में स्कूली शिक्षा की व्यवस्था काफी न्यायविरुद्ध है जिसमें मध्य वर्गीय और अभिजात वर्गों के लिए निजी विद्यालयों और गरीबों के लिए सरकारी विद्यालयों की एक शृंखला है। बीते दशक में, स्कूल न जाने वाले बच्चों को सरकारी स्कूलों में नामांकित कराने के राज्य के प्रयासों से ऐसे प्रयासों में बढ़ोतरी हुई है (राज्य और बहुपक्षीय फंडिंग एजेंसियों द्वारा) जिसके अन्तर्गत वे इन 'बड़े' सरकारी स्कूलों की बच्चों को शिक्षित करने में 'असफल' वाली छवि गढ़ना चाहते हैं। इसके परिणामस्वरूप नीतियों के तहत ऐसे नए स्कूल आरम्भ किए गए हैं जो आसानी से स्थापित हो सकें और जिनकी जवाबदेही ज्यादा हो। इन नए स्कूलों में एक कमरे के स्कूल के विभिन्न प्रकार हैं जिनमें अकसर कम योग्यता वाले शिक्षक होते हैं। क्योंकि इन शिक्षकों के पास अकसर नौकरी की सुरक्षा नहीं होती इसलिए इन्हें राज्य के प्रति अधिक जवाबदेह समझा जाता है। इस बारे में और अधिक जानकारी के लिए Govinda, ed. *India Education Report* देखें।

¹⁵ स्थानीय क्लब— कलकता में एक काफी आम घटना—आमतौर पर अड़ोस-पड़ोस के युवा व्यक्तियों द्वारा स्थापित किया जाता है जो मिलने-जुलने, त्यौहार मनाने और स्वयं को व अपने समुदाय को एक पहचान प्रदान करने के लिए इसे इस्तेमाल करते हैं। ये क्लब शहर के सिर्फ गरीब इलाकों तक ही सीमित नहीं हैं।

¹⁶ यह मानवजाति वर्णन सम्बन्धी शोध मोहल्ला संख्या 28 में किया गया था, जो मुख्यतः एक मुस्लिम मोहल्ला है। सर्वेक्षण के अनुसार इस मोहल्ले में 5,152 परिवार और 5,480 बच्चे (तीन से चौदह वर्ष की आयु के) थे जिनमें से कुल 2,103 स्कूल में नहीं थे। इस सर्वेक्षण के खाके के अन्तर्गत यह भी आँका गया कि मौजूदा सरकारी शिक्षण संस्थानों (सरकारी स्कूलों एवं अनौपचारिक शिक्षा केन्द्रों सहित) में एक विशिष्ट वार्ड से स्कूल न जाने वाले बच्चों की विशिष्ट संख्या में से कितनों को समायोजित करने के स्थान उपलब्ध हैं। मोहल्ला संख्या 28 के स्कूल न जाने वाले 2,103 बच्चों के लिए, बारह SPK स्कूल और साथ ही साथ एक ब्रिज कोर्स केन्द्र स्थापित करने की आवश्यकता थी। क्लब स्कूल के निकटतम आस-पड़ोस में शोधकर्ताओं ने पाँच से नौ वर्ष की आयु के 100 बच्चों को स्कूल से वंचित पाया और इसलिए सर्वेक्षण ने दो नए स्कूल स्थापित करने की अनुमति दी। इन दोनों प्रस्तावित क्लब स्कूलों के निकट के क्षेत्र में दो उर्दू माध्यम सरकारी स्कूल हैं, पर उनकी दाखिले की दर पहले से ही इतनी ज्यादा है कि उस स्थान में और बच्चे नहीं समा सकते।

¹⁷ इसका इशारा ऐसे कामों की तरफ है, जिनके लिए मजदूरी किसी विशिष्ट वस्तु की इकाइयों के आधार पर दी जाती है, न कि घण्टे के अनुसार काम करने के आधार पर, जैसे : बीड़ी बनाना, किताबें सिलना, या कपड़ों पर कढ़ाई करना। इकाई के अनुसार भत्ते मिलने वाला कार्य अकसर घर पर किया जाता है और अकसर इसमें परिवार के एक से ज्यादा

सदस्य जुटे होते हैं। ज्यादातर टुकड़े के अनुसार काम के लिए मिलने वाला भत्ता जोड़ने पर उतने ही काम के घण्टे के आधार पर मिलने वाले भत्ते से कम होता है।

¹⁸ छात्रों के स्व के निर्माण पर स्कूल स्थल के भौतिकत्व का प्रभाव एक खास तरह के शिक्षित व्यक्तियों का निर्माण करने के स्थान के तौर पर स्कूलों के इस्तेमाल के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। स्कूल का ऐसा विशेष प्रयोग टैगोर, गाँधी, पेस्टालोजी और रूसो जैसे शिक्षाविदों के कार्य में देखा जा सकता है। उनकी शैक्षणिक पद्धतियाँ एक सम्पूर्ण व्यक्ति के निर्माण से जुड़ी थीं, वृहद मायनों में उस स्थान के विशिष्ट प्रयोग पर निर्भर थीं। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि इन शिक्षाविदों के कार्य में इन विशिष्ट स्थानों और / या स्थान का एक खास प्रयोग इन बच्चों के एक 'असली स्कूल' के विचार का मूलभूत रूप से विरोधी (और उनके विचारों पर एक प्रतिक्रिया) था। पूँजी पर बौर्द्यू के विचार भी गहरे तौर पर स्थान के सांस्कृतिक रूप से चिन्हित उत्पादन से परस्पर सम्बद्ध हैं। एक विशिष्ट प्रकार के स्थान का प्रयोग बीसवीं शताब्दी की शुरुआत में भारत में कामकाजी बच्चों के लिए बनाए गए फैक्टरी स्कूलों में भी देखा गया है। उदाहरण के लिए, 1904 में पेरमबोर, मद्रास में बकहिंगम और कर्नाटक मिलों द्वारा कामकाजी बच्चों के लिए बनाया गया स्कूल कारखाने के निकट ही स्थापित किया गया था और उनकी कक्षाओं में मिल के विभिन्न हिस्सों में प्रयोग में आने वाली विभिन्न मशीनें लगाई गई थीं। हर मशीन के नीचे अँग्रेज़ी में उसका नाम छापा गया था ताकि बच्चे उन मशीनों के नामों और उनसे जुड़े काम से परिचित हो जाएँ। देखें, Pierre Bourdieu and Loïc Wacquant, *An Invitation to Reflexive Sociology* (Chicago: University of Chicago Press, 1992).

¹⁹ Paul Willis, *Learning to Labor: How Working Class Kids Get Working Class Jobs* (New York: Columbia University Press, 1977).

²⁰ जबकि देश में सरकारी स्कूलों के गिरते स्तर काल्पनिक अनुपात धारण कर चुके हैं, इस विशेष ऐतिहासिक क्षण में यह दिलचस्प है कि नव-उदारवादी राज्य ने पदासीन शिक्षकों पर आरोप लगाकर स्वयं को इस पतन से चालाकी से दूर कर लिया। सरकारी क्षेत्र की अदक्षता और आलस्य के बारे में चर्चा के समान ही, लोगों में प्रचलित मौजूदा राय सरकारी स्कूलों के शिक्षकों और उनमें प्रतिबद्धता की कमी की प्रकृति के अध्ययन के बारे में मुखर है। ये शिक्षक सम्पूर्ण व्यवस्था की विफलता का प्रतीक बन गए हैं, इस प्रकार नए शिक्षकों की वचनबद्धता को निश्चित करने के लिए अनुशासनिक प्रक्रियाओं के नए समूह की जरूरत साफ जाहिर हो जाती है। यह नए शिक्षक पैरा-शिक्षक हैं, या वह हैं जिनके पास कम शैक्षणिक योग्यताएँ हैं, कोई औपचारिक प्रशिक्षण नहीं है, और जो कम वेतन और कार्यकाल के अभाव की असुरक्षा को भी स्वीकार कर लेते हैं। सरकार इन शिक्षकों को कल्याण राशि नहीं प्रदान करती है, ना ही इन्हें पेंशन मिलती है। इस बारे में और अधिक जानकारी के लिए देखें Govinda, ed. *India Education Report*.

²¹ देखें Myers, "Can Children's Work and Education be Reconciled?"

²² इस शोध के बारे में और अधिक जानने के लिए देखें, Sarada Balgopalan, "Neither Suited for the Home nor for the Fields: Inclusion, Formal Schooling and Adivasi Child." *IDS Bulletin*, Vol. 34:1 (2003):55-

²³ प्रतीकात्मक हिंसा (Symbolic violence) के विचार के बारे में और अधिक जानने के लिए देखें Bourdieu and Wacquant, *An Invitation to Reflexive Sociology*.